

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

रुहज समाधि भली

(चुप-साधन)



परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके

वचनोंका सार-संग्रह

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सहज समाधि भली

[चुप-साधन]

[परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके
वचनों से संगृहीत]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

संकलनकर्ता—

राजेन्द्र कुमार धवन

प्रकाशक—गीता प्रकाशन,
गीता-सत्संग-मण्डल,
कसौधन पंचायती मन्दिर (हरिवंश गली),
गोरखपुर—२७३००५ (उ०प्र०)

सम्पर्क-सूत्र—093 895 93 845; radhagovind10@gmail.com

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
पहला अध्याय	१
दूसरा अध्याय	४
तीसरा अध्याय	५
चौथा अध्याय	७
पाँचवाँ अध्याय	८
छठा अध्याय	९
सातवाँ अध्याय	११
आठवाँ अध्याय	१३
नवाँ अध्याय	१४
दसवाँ अध्याय (प्रश्नोत्तर)	१५
ग्यारहवाँ अध्याय (चुप-साधन-सूत्र)	१८



प्राक्कथन

इस युगके अप्रतिम महापुरुष परमश्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके जीवनका एक ही ध्येय था कि मनुष्यमात्रका शीघ्र-से-शीघ्र तथा सुगमतापूर्वक कल्याण कैसे हो? इस विषयमें उन्होंने अनेक क्रान्तिकारी उपायोंकी खोज की और उनसे साधकोंको अवगत कराया। उनमेंसे एक उपाय है—‘चुप-साधन’। चुप-साधनका तात्पर्य केवल वाणीसे चुप हो जाना नहीं है, अपितु इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे भी ‘चुप’ (क्रियारहित, असंग, शान्त) हो जाना है। इस साधनमें कुछ करना नहीं पड़ता, अपितु करनेका त्याग करना पड़ता है। तात्पर्य है कि यह करनेका साधन नहीं है, अपितु समझनेका साधन है।

सागरमें रहनेवाली एक नन्हीं-सी मछलीके भीतर एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उसने अपनी माँसे पूछा कि मैं कई दिनोंसे ‘सागर’ नाम सुन रही हूँ, पर यह सागर कौन है और कहाँ रहता है? माँने उत्तर दिया कि ‘सागर’ नाम तो मैं भी बचपनसे सुनती आयी हूँ, पर मुझे उसके बारेमें कुछ नहीं पता। मैंने इसपर कभी विचार ही नहीं किया! चलो, अपनी सखियोंसे पूछती हूँ। उसने अपनी सखियोंसे पूछा तो उनका भी यही उत्तर था कि इसपर तो हमने कभी सोचा ही नहीं! हाँ, एक बूढ़ी मछली है, वह शायद सागरके बारेमें जानती हो। चलो, जाकर उसीसे पूछें।

कुछ मछलियाँ तो यह कहकर रुक गयीं कि आप ही उस बूढ़ी मछलीके पास जाओ, हमें सागरसे क्या लेना-देना? कुछ मछलियाँ तमाशा देखनेके उद्देश्यसे उनके साथ चल पड़ीं। सब मिलकर उस बूढ़ी मछलीके पास गयीं और पूछा कि यह सागर कौन है? आप इसके बारेमें कुछ जानती हों तो बतायें। बूढ़ी मछलीने हँसते हुए कहा—‘अरी पगलियो! जिसमें तुम्हारा-हमारा सबका जन्म हुआ है, जिसमें हम रात-दिन रहते हैं, जिसमें हम सब जी रहे हैं और जिसमें हम सब एक दिन विलीन हो जायँगे, जो हमारे भीतर-बाहर सब जगह परिपूर्ण है, जिसकी सत्तासे ही हमारी सता है, जिससे हम कभी अलग नहीं हो सकते, और जो हमें अपने चारों ओर दिखायी दे रहा है, यही तो सागर है!’

कई मछलियोंको तो यह बात समझमें नहीं आयी। वे मौन होकर एक-दूसरेका मुँह देखने लगीं। कुछ समझदार मछलियोंकी आँखें आश्चर्यसे खुली-की-खुली रह गयीं। पर वह नन्हीं-सी जिज्ञासु मछली सागरके ध्यानमें खोकर ‘चुप’ हो गयी। उसे सचमुच सागरका बोध हो गया!

चुप-साधन इस सिद्धान्तपर आधारित है कि हम जहाँ हैं, वहीं परमात्मतत्त्व है। जो तत्त्व सब जगह परिपूर्ण है, नित्यप्राप्त है, उसके लिये कोई साधन करना बनता ही नहीं। उसके लिये तो एकमात्र ‘चुप’ (बाहर-भीतरसे अक्रिय) होना ही उपाय है। चुप होनेके सिवाय और करेंगे भी क्या? ‘चुप’ इसलिये होना है कि हमें जो चाहिये, वह परमात्मतत्त्व अपनेमें है और अभी है। वह अपने द्वारा प्राप्त होता है, शरीरके द्वारा नहीं। जैसे आकाश स्वाभाविक स्थित रहता है, वायु स्वाभाविक बहती है, पृथ्वी स्वाभाविक स्थित है, ऐसे ही परमात्मतत्त्व स्वाभाविक स्थित है, उसमें करना क्या है? तत्त्वज्ञान होता नहीं है, वह तो है। उसके लिये

यही करना है कि कुछ नहीं करना है। 'चुप' होनेसे स्वतः उसका अनुभव हो जाता है।

परमात्मतत्त्व अक्रिय है; अतः अक्रिय होनेपर ही उसका अनुभव होता है। परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजने इस वास्तविकताकी ओर हमारी दृष्टि दिलायी है कि जिस समय हम कुछ भी चिन्तन करते हैं, उस समय हमारी स्थिति संसारमें होती है, और जिस समय हम कुछ भी चिन्तन नहीं करते, उस समय हमारी स्थिति परमात्मामें होती है। कारण कि हम जिन करणोंसे चिन्तन-मनन-ध्यान आदि करते हैं, वे करण प्रकृतिके हैं, जबकि परमात्मतत्त्व प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है। साधक कुछ भी करे, अन्तमें उसे 'चुप' होना ही पड़ेगा। इसलिये परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराज बार-बार कहते थे कि परमात्माकी प्राप्ति जड़ता (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि)-के द्वारा नहीं होती, अपितु जड़ताके त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद)-से होती है।

जैसे संसारमें किसी लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये हम घरसे निकलते हैं और दौड़ते-दौड़ते उस लक्ष्यतक पहुँचते हैं, ऐसे परमात्मतत्त्वतक पहुँचना नहीं है। कारण कि जहाँसे हम दौड़ना आरम्भ करते हैं, लक्ष्य (परमात्मतत्त्व) वहीं है—

दौड़ सके तो दौड़ ले, जब लगि तेरी दौड़।

दौड़ थक्या धोखा मिट्या, वस्तु ठौड़-की-ठौड़॥

वास्तवमें हम अपने वास्तविक घर (परमात्मा)-से बहुत दूर निकल चुके हैं, भटक चुके हैं; अतः हमें अब कहीं जाना नहीं है, अपितु जहाँ हम पहुँचे हैं, वहाँसे लौटकर वहीं आना है, जहाँसे हम चले थे! हमारा लक्ष्य वहीं है, जहाँसे हमने यात्रा आरम्भ की। यात्राका आरम्भ ही एक बड़ी भूल थी, जिसने हमें लक्ष्यसे बहुत दूर कर दिया! हमारी यात्रा वैसी ही थी, जैसे कोई मृग कस्तूरी पानेके लिये यात्रा करे! अथवा कोई अपने घरमें बैठा होकर भी अपने घरका मार्ग पूछे! वास्तवमें मंजिल वहीं है, जहाँ मुसाफिर है! न तो हमने कुछ खोया है और न हमें कुछ पाना ही है—

खोया कहे सो बावरा, पाया कहे सो कूर।

पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

तात्पर्य है कि जो अपना है और अपनेमें है, उसे पानेके लिये एक कदम भी चलनेकी आवश्यकता नहीं है। जैसे कोई व्यक्ति नींदके लिये परिश्रम नहीं करता, अपितु परिश्रम छोड़कर अक्रिय होनेसे नींद अपने-आप आती है, ऐसे ही 'चुप' होनेसे असत्का संस्कार अपने-आप मिटता है। जैसे पानीमें घुली हुई मिट्टीको हाथसे नीचे बैठाना चाहें तो वह बैठना तो दूर रहा, उल्टे और फैल जायगी! उसे बैठानेके लिये कोई उद्योग करनेकी जरूरत नहीं है। उसे छेड़ें नहीं तो वह अपने-आप बैठ जायगी। ऐसे ही हम सत्ताको छेड़ें नहीं, कोई क्रिया न करें तो असत्का संस्कार अपने-आप मिट जायगा।

आश्चर्यकी बात है कि जिस साध्यको हमने पहाड़के समान मान रखा है, वह एक तिनकेकी ओटमें छिपा है—

तेरा साहिब है घट मांही, बाहर नैना क्यों खोले।

कहत कबीर सुनो भाई साधो, साहिब पाया तृण-ओले॥

यह तिनका चुप-साधनसे जल जाता है और वास्तविक तत्त्व प्रकट हो जाता है।

चुप-साधनकी बात भिन्न-भिन्न रूपोंसे शास्त्रोंमें भी मिलती है और अनेक अनुभवी सन्तोंकी

वाणीमें भी मिलती है, पर गौणरूपसे मिलती है। परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजने करण-निरपेक्ष-शैली अपनाते हुए इस साधनको मुख्यतासे प्रकट किया है।

कुछ लोग चुप-साधनको ध्यानका ही एक प्रकार समझते हैं, पर वास्तवमें चुप-साधन ध्यान नहीं है, अपितु इसमें ध्यानका त्याग है। चुप-साधन और ध्यानमें बहुत बड़ा अन्तर है। हम किसीका भी चिन्तन करते हैं तो वह ध्यान होता है। जब किसीका भी चिन्तन-ध्यान नहीं करते, तब चुप-साधन होता है। परन्तु जिनके अन्तःकरणमें क्रियाका महत्त्व बैठा हुआ है, उनके लिये चुप-साधन करना तो दूर रहा, इसे समझना भी कठिन है!

चुप-साधन एकमात्र ऐसा साधन है, जिसे मानवमात्र अपना सकता है। कारण कि इसमें किसी देश, वेश, जाति, मत, सम्प्रदाय, धर्म, विद्या, योग्यता आदिका आग्रह नहीं है। ये सब भेद 'करने' को लेकर ही होते हैं। 'न करने' में कोई भेद नहीं रहता, सब एक हो जाते हैं।

प्रस्तुत पुस्तकमें परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराज द्वारा चुप-साधनके विषयमें कही गयी अथवा लिखवायी हुई बातोंका संक्षिप्त संकलन किया गया है, जिससे जिज्ञासु साधकको चुप-साधन-विषयक सब सामग्री एक ही जगह उपलब्ध हो जाय। श्रीस्वामीजी महाराजने समय-समयपर चुप-साधनके विषयमें जो बातें व्यक्तिगत रूपसे कही थीं, उन्हें भी 'चुप-साधन-सूत्र' नामसे इस पुस्तक अन्तमें दिया गया है।

संकलन होनेके कारण इस पुस्तकमें पुनरुक्ति होनी स्वाभाविक है। परन्तु उपयोगी समझकर इन पुनरुक्तियोंको हटाया नहीं गया है। आशा है, जिज्ञासु साधक इस पुस्तकके अध्ययन-मननसे लाभ उठायेंगे।

श्रीरामनवमी
वि०सं० २०६९

निवेदक—
राजेन्द्र कुमार धवन

====:0:====



पहला अध्याय

बाहर-भीतरसे चुप हो जाना 'चुप-साधन' है। भीतरसे ऐसा विचार कर लें कि मेरेको कुछ करना है ही नहीं। न स्वार्थ, न परमार्थ; न लौकिक, न पारलौकिक, कुछ भी नहीं करना है। ऐसा विचार करके बैठ जायँ। बैठनेका बढ़िया समय है—प्रातः नींदसे उठनेके बाद। नींदसे उठते ही भगवान्को नमस्कार करके बैठ जायँ। जैसे गाढ़ नींदमें किंचिन्मात्र भी कुछ करनेका संकल्प नहीं था, ऐसे ही जाग्रत्-अवस्थामें किंचिन्मात्र भी कुछ करनेका संकल्प न रहे। चिन्तन, जप, ध्यान आदि कुछ भी नहीं करना है। परन्तु 'चिन्तन आदि नहीं करना है'—यह संकल्प भी नहीं रखना है; क्योंकि 'न करने' का संकल्प रखना भी 'करना' है। वास्तवमें 'न करना' स्वतःसिद्ध है। मन-बुद्धि आदिको स्वीकार करके ही 'करना' होता है।

अब किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं करना है—ऐसा विचार करके चुप हो जायँ। यदि मन न माने तो 'सब जगह एक परमात्मा परिपूर्ण हैं'—ऐसा मानकर चुप हो जायँ। सगुणकी उपासना करते हों तो 'मैं प्रभुके चरणोंमें पड़ा हूँ'—ऐसा मानकर चुप हो जायँ। परन्तु यह दो नम्बरकी बात है। एक नम्बरकी बात तो यह है कि कुछ करना ही नहीं है। इस प्रकार चुप होनेपर भीतरमें कोई संकल्प-विकल्प हो, कोई बात याद आये तो उसकी उपेक्षा करें, विरोध न करें। उसमें न राजी हों, न नाराज हों; न राग करें, न द्वेष करें। शास्त्रविहित अच्छे संकल्प आयें तो उसमें राजी न हों और शास्त्रनिषिद्ध बुरे संकल्प आयें तो उसमें नाराज न हों। स्वयं भी उन संकल्पोंके साथ न चिपकें अर्थात् उनको अपना न मानें।

आप कहते हैं कि मन बड़ा खराब है, पर वास्तवमें मन अच्छा और खराब होता ही नहीं। अच्छा और खराब स्वयं ही होता है। स्वयं अच्छा होता है तो संकल्प अच्छे होते हैं और स्वयं खराब होता है तो संकल्प खराब होते हैं। अच्छा और खराब—ये दोनों ही प्रकृतिके सम्बन्धसे होते हैं। प्रकृतिके सम्बन्धके बिना न अच्छा होता है और न बुरा होता है। जैसे सुख और दुःख दो चीज हैं, पर आनन्दमें दो चीज नहीं हैं अर्थात् आनन्दमें न सुख है, न दुःख है। ऐसे ही प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित तत्त्वमें न अच्छा है, न बुरा है। इसलिये अच्छे और बुरेका भेद करके राजी और नाराज न हों।

संकल्प आयें अथवा जायँ, उसमें पहलेसे ही यह विचार कर लें कि वास्तवमें संकल्प आता नहीं है, प्रत्युत जाता है। भूतकालमें हमने जो काम किये हैं, उनकी याद आती है अथवा भविष्यमें कुछ करनेका विचार पकड़ रखा है, उसकी याद आती है कि वहाँ जाना है, वह काम करना है आदि। इस तरह भूत और भविष्यकी याद आती है, जो अभी है ही नहीं। वास्तवमें उसकी याद आ नहीं रही है, प्रत्युत स्वतः जा रही है। मनमें जो बातें जमी हैं, वे निकल रही हैं। अतः आप उससे सम्बन्ध मत जोड़ें, तटस्थ हो जायँ। सम्बन्ध नहीं जोड़नेसे आपको उन संकल्पोंका दोष नहीं लगेगा और वे संकल्प भी अपने-आप नष्ट हो जायँगे; क्योंकि उत्पन्न होनेवाली वस्तु स्वतः नष्ट होती है—यह नियम है।

संसारमें बहुत-से पुण्यकर्म होते हैं, पर क्या हमें उनसे पुण्य होता है? ऐसे ही संसारमें बहुत-से पापकर्म होते हैं, पर क्या हमें उनका पाप लगता है? नहीं लगता। क्यों नहीं लगता? कि हमारा

उनसे सम्बन्ध नहीं है। उनके साथ हमारा सहयोग नहीं है। जैसे संसारमें पुण्य-पाप हो रहे हैं, ऐसे ही मनमें संकल्प-विकल्प हो रहे हैं। हम उनको करते नहीं और करना चाहते भी नहीं। हम उनके साथ चिपक जाते हैं तो उनकी पुण्य और पापकी, अच्छे और बुरेकी संज्ञा हो जाती है, जिससे उनका फल पैदा हो जाता है और वह फल हमें भोगना पड़ता है। इसलिये उनके साथ मिले नहीं। न अनुमोदन करें, न विरोध करें। संकल्प-विकल्प उठते हैं तो उठते रहें। यह करना है और यह नहीं करना है—इन दोनोंको उठा दें। गीतामें आया है—‘नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन’ (३। १८)। करने और न करने—दोनोंका ही आग्रह न रखें। करनेका आग्रह रखना भी संकल्प है और न करनेका आग्रह रखना भी संकल्प है। करना भी कर्म है और न करना भी कर्म है। करनेमें भी परिश्रम है और न करनेमें भी परिश्रम है। अतः करने और न करने—दोनोंसे किंचिन्मात्र भी कोई मतलब न रखकर चुप हो जायँ तो प्रकृतिका सम्बन्ध छूट जाता है और स्वतः परम विश्राम प्राप्त हो जाता है; क्योंकि क्रियारूपसे प्रकृति ही है। वह क्रिया चाहे शरीरकी हो, चाहे मनकी हो, सब प्रकृतिकी ही है। इस प्रकार बाहर-भीतरसे चुप हो जायँ तो जिसको तत्त्वज्ञान कहते हैं, जीवन्मुक्ति कहते हैं, सहज समाधि कहते हैं, वह स्वतः हो जायगी।

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा।

कनिष्ठा शास्त्रचिन्ता च तीर्थयात्राऽधमाऽधमा ॥

—छोटे-से-छोटा साधन तीर्थयात्रा है। उससे ऊँचा शास्त्रचिन्तन है। शास्त्रचिन्तनसे ऊँची ध्यान-धारणा है; और ऊँची-से-ऊँची सहजावस्था (सहज समाधि) है*। उस सहजावस्थामें आप पहुँच जायँगे!

सहजावस्था न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है, न मूर्च्छा है और न समाधि है। सुषुप्ति और सहजावस्थामें फर्क यही है कि सुषुप्तिमें तो बेहोशी रहती है, पर सहजावस्थामें बेहोशी नहीं रहती, प्रत्युत होश रहता है, जागृति रहती है, ज्ञानकी एक दीप्ति रहती है—‘आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते’ (गीता ४। २७)।

वास्तवमें चुप होना नहीं है, प्रत्युत चुप तो स्वाभाविक है। जिनके वेदान्तके संस्कार हैं, वे समझ जायँगे कि आत्मा न कर्ता है, न भोक्ता है। अतः सहजावस्था स्वाभाविक है।

चुप होते समय अगर नींद आने लगे तो जप-कीर्तन करना शुरू कर दो, खड़े हो जाओ। परन्तु जबतक नींद न आये, तबतक ‘कुछ नहीं करना है’—इसीमें (चुप) रहो। एक-दो सेकेण्ड भी इस प्रकार चुप हो जाओ तो बड़ा लाभ है। अगर आधा मिनट चुप हो जाओ तो बड़ी शक्ति पैदा होती है। चुप रहनेमें जो शक्ति पैदा होती है, वह शक्ति करनेमें कभी पैदा नहीं होती, प्रत्युत करनेमें तो शक्ति खर्च होती है। हम काम करते-करते थक जाते हैं तो फिर सो जाते हैं। गहरी

* प्रवृत्ति (करना) और निवृत्ति (न करना)—दोनों ही प्रकृतिके राज्यमें हैं। निर्विकल्प समाधितक सब प्रकृतिका राज्य है; क्योंकि निर्विकल्प समाधिसे भी व्युत्थान होता है। क्रियामात्र प्रकृतिमें ही होती है और क्रिया हुए बिना व्युत्थान होना सम्भव ही नहीं है। इसलिये चलने, बोलने, देखने, सुनने आदिकी तरह बैठना, खड़ा होना, मौन होना, सोना, मूर्च्छित होना और समाधिस्थ होना भी क्रिया है। तात्पर्य है कि जबतक प्रकृतिका सम्बन्ध है, तबतक समाधि भी कर्म ही है, जिसमें समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर कोई अवस्था नहीं होती, प्रत्युत ‘सहज समाधि’ अथवा ‘सहजावस्था’ होती है, जिससे कभी व्युत्थान नहीं होता।

सहजावस्था वास्तवमें अवस्था नहीं है, प्रत्युत अवस्थासे अतीत है। अवस्थातीत कोई अवस्था नहीं होती। अवस्थाभेद प्रकृतिमें है, स्वरूपमें नहीं। इसलिये सहजावस्थाको सबसे उत्तम कहा गया है।

नींदमें सब थकावट दूर हो जाती है और मनमें, इन्द्रियोंमें, शरीरमें ताजगी आ जाती है, करनेकी शक्ति आ जाती है। ऐसे ही प्रलयमें चुप हो जाते हैं तो सर्गकी सामर्थ्य आ जाती है। महाप्रलयमें चुप हो जाते हैं तो महासर्गकी सामर्थ्य आ जाती है। इस प्रकार जितनी भी सामर्थ्य है, वह सबकी-सब 'न करने' से आती है। 'न करना' ही परमात्माका स्वरूप है, जो नित्यप्राप्त है। 'न करने' का जो माहात्म्य है, वह 'करने' का है ही नहीं, कभी हुआ ही नहीं, कभी होगा भी नहीं और हो सकता ही नहीं। 'न करने' में जो सामर्थ्य है, वह 'करने' में है ही नहीं। कारण कि 'करने' का आरम्भ और अन्त होता है; अतः करना अनित्य है। परन्तु 'न करने' का आरम्भ और अन्त नहीं होता; अतः 'न करना' नित्य है।

कुछ दिन विचार किये बिना यह चुप होनेकी अटकल आती नहीं। आप कुछ दिन विचार करेंगे, तब समझमें आयेगी। अभी समझमें न आनेपर भी 'ऐसी सहजावस्था होती है'—यह मान लें। इस सहजावस्थाका वर्णन शास्त्रोंमें और सन्तोंकी वाणीमें भी बहुत कम आता है। सींथल (राजस्थान) में श्रीहरिरामदासजी महाराज हुए। उनकी वाणीमें आता है—

सहजां मारग सहज का, सहज किया विश्राम।

'हरिया' जीव र सीव का, एक नाम अरु ठाम॥

सहज तन मन सहज पूजा। सहज सा देव नहीं और दूजा॥

उन्होंने अपना परिचय भी इस प्रकार दिया—

हरिया जैमलदास गुरु, राम निरंजन देव।

काया देवल देहरो, सहज हमारे सेव॥

'श्रीजैमलदासजी महाराज हमारे गुरु हैं। जो प्रकृतिसे अत्यन्त अतीत हैं, वे राम हमारे देव हैं। यह शरीर हमारा देवल (देवस्थान) है। सहज (कुछ न करना) ही हमारी सेवा है।'

कबीरदासजी महाराजकी वाणीमें आता है—

साधो सहज समाधि भली।

गुरु-प्रताप जा दिन तैं उपजी, दिन-दिन अधिक चली॥

जहँ-जहँ डोलों सोइ परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा।

जब सोवों तब करौं दण्डवत, पूजों और न देवा॥

कहों सो नाम, सुनों सो सुमिरन, खाँव-पियों सो पूजा।

गिरह-उजाड़ एक सम लेखों, भाव न राखों दूजा॥

आँख न मूँदों, कान न रूँधों, तनिक कष्ट नहिं धारौं।

खुले नैन पहिचानों हँसि-हँसि, सुन्दर रूप निहारौं॥

सबद निरंतर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।

ऊठत-बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी॥

कह कबीर यह उनमनि रहनी, सो परगट करि भाई।

दुख-सुख से कोई परे परमपद, तेहि पद रहा समाई॥

ऐसी सहजावस्थाकी प्राप्तिका उपाय है—बाहर-भीतरसे चुप हो जाना अर्थात् कुछ न करना। कुछ न करनेसे सब कुछ हो जाता है।

हमें करना कुछ है ही नहीं—न पहले करना था, न अभी करना है, न बादमें करना है। भगवान्का भी चिन्तन नहीं करना है। भगवान्के चरणोंमें गिर जाना है, पर चरणोंका चिन्तन नहीं करना है।

न संसारका चिन्तन करना है, न भगवान्का। मनका निरीक्षण भी नहीं करना है। मनका निरीक्षण तभी करेंगे, जब मनके साथ अपना सम्बन्ध मानेंगे, जबकि मनके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं। अतः मनकी तरफ देखना ही नहीं है। यह कोई मामूली चीज नहीं है, बहुत ऊँची चीज है! यह सब साधनोंका अन्तिम साधन है। कुछ न करनेमें सब साधन एक हो जाते हैं। जैसे अरबों रुपयोंका एक पैसा भी अंश है, ऐसे ही जिसको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति, जीवन्मुक्ति, सहज समाधि कहते हैं, उसका अंश है यह।

====:0:====

दूसरा अध्याय

लोग मनको रोकनेके लिये बहुत मेहनत करते हैं, पर मन रुकता नहीं। मनको रोकना नहीं है। मनको न तो रोकना है और न चलाना है। मन जैसा है, वैसा ही छोड़ दो; उसकी उपेक्षा कर दो, उदासीन हो जाओ। फिर संकल्प-विकल्प आप-से-आप मिट जायँगे। वे तो आप-से-आप ही मिट रहे हैं। जान-बूझकर उनको मिटानेकी आफत क्यों मोल लेते हो? उनको मिटानेकी चेष्टा करना ही उनको सत्ता देना है।

भगवान्ने गीतामें अपनी तरफसे कहीं ऐसा नहीं कहा कि मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास करना चाहिये, प्रत्युत 'शनैः शनैरुपरमेत्' (गीता ६। २५) पदोंसे उपराम होनेके लिये कहा है। मनको पकड़नेके विषयमें अर्जुनके पूछनेपर ही भगवान्ने उनको बताया कि अभ्यास और वैराग्यसे यह मन पकड़ा जाता है (गीता ६। ३३-३५)। अर्जुनने दो श्लोकोंमें प्रश्न किया और भगवान्ने दो श्लोकोंमें ही उत्तर दे दिया। इतना थोड़ा भगवान् किसी प्रश्नके उत्तरमें बोले ही नहीं। दो श्लोकोंमें भी भगवान्ने केवल आधे श्लोकमें ही उत्तर दिया और आधे श्लोकमें अर्जुनकी बातका समर्थन किया। फिर भगवान्ने बताया कि मनको पकड़नेमात्रसे मुक्ति नहीं होती, मनको वशमें करना चाहिये—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवामुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

'जिसका मन वशमें नहीं है, उच्छृङ्खल है अर्थात् सांसारिक भोगोंमें जिसकी रुचि है, उसके द्वारा योग प्राप्त करना कठिन है। परंतु जिसका मन वशमें है, ऐसे यत्न करनेवाले साधकको योग प्राप्त हो सकता है।' मनको वशमें करनेका अर्थ यह नहीं है कि मनको मैं पकड़ लूँ, एकाग्र कर लूँ। मनके वशमें न होना ही मनको वशमें करना है। इसी तरह भगवान्ने इन्द्रियोंके तथा राग-द्वेषके वशमें न होनेकी बात कही है—'रागद्वेषवियुक्तैस्तु.....प्रसादमधिगच्छति॥ (गीता २। ६४); 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थंपरिपन्थिनौ॥' (गीता ३। ३४)। वशमें न होनेका अर्थ है कि उसके कहनेके अनुसार काम न करे और उसकी दशा देखकर चिन्तित न हो। वह ज्यों बहता है, त्यों बहता रहे। स्वयं उससे अलग रहे, तटस्थ रहे। वास्तवमें आप उससे तटस्थ ही हो। आप उसके साथ रहते नहीं हो। वह तो बदलता है, पर आप नहीं बदलते हो। आप बिलकुल उससे अलग हो। इस तरह उसको अपनेसे अलग जानना है।

मनके चंचल होनेसे आपका क्या बिगड़ गया? आप तो ज्यों-के-त्यों हो और वह बह रहा

है। यह भी एक तमाशा है। मनको ठीक करनेमें कई वर्ष लग जाते हैं, पर ठीक होता नहीं। ठीक कैसे हो? वह ठीक होनेवाला है ही नहीं। आप तो उलटे उसको बल देते हो, उसको चंचल बनाते हो और कहते हो कि मनको रोकते हैं। संसारको याद करते हो और कहते हो कि भगवान्का पूरा भजन-ध्यान करते हैं। एकान्तमें घण्टाभर बैठे, तो उसमें कितनी देर भगवान् याद आये? भगवान्को तो याद करना पड़ता है, पर संसार आप-से-आप याद आता है। इस विषयमें एक बात बड़ी शान्तिसे समझनेकी है कि जो आप-से-आप याद आता है, उसकी आपपर जिम्मेवारी नहीं होती। अतः जो आप-से-आप याद आता है, उसमें मुफ्तमें ही क्यों उलझते हो? स्फुरणा आप-से-आप उत्पन्न होती है और आप-से-आप शान्त हो जाती है, आप क्यों आफतमें पड़ते हो? मनुष्यकी जिम्मेवारी करनेपर होती है। जिसको आप करते ही नहीं, प्रत्युत जो आप-से-आप होता है, उसकी जिम्मेवारी आपपर नहीं है। आप जवानसे बूढ़े हो गये, तो क्या आपपर इसकी जिम्मेवारी है कि आप बूढ़े क्यों हो गये? आपने गलती क्यों की? ऐसे ही आप संसारको याद नहीं करते, पर संसार आप-से-आप याद आता है तो इसकी जिम्मेवारी आपपर नहीं है। इसलिये आप अपनी तरफसे कुछ भी चिन्तन न करें—‘न किञ्चिदपि चिन्तयेत्’ (गीता ६। २५)। चिन्तन आ जाय तो वह जैसे आया है, वैसे ही चला जायगा। आप उसमें कुछ दखल न करें। यह बहुत ही बढ़िया युक्ति है। आपके विश्वासके लिये कहता हूँ कि हमारेको तो यह युक्ति बहुत वर्षोंके बाद मिली है। आप तो इस युक्तिको अभी ही काममें ले लो। मनकी उपेक्षा कर दो। बस, आप ठीक ठिकाने आ गये। मनके साथ मिलकर उसको एकाग्र करनेकी चेष्टा करना इतना बढ़िया उपाय नहीं है। कारण कि ऐसा करनेसे उसको सत्ता मिलेगी, उसको महत्त्व मिलेगा। जो है ही नहीं, उसको मिटानेकी चेष्टा करनेका अर्थ है—उसको ‘है’ मानना।

====:0:====

तीसरा अध्याय

पढ़ाईके समय भी मेरी यह खोज रही है कि जीवका कल्याण कैसे हो? मेरेको जब यह बात मिली कि परमात्मतत्त्व करण-निरपेक्ष है, तब मुझे बड़ा लाभ हुआ, बड़ी प्रसन्नता हुई। आप इस बातपर आरम्भमें ही ध्यान दो तो बड़ा अच्छा रहे! तत्त्व वृत्तिके कब्जेमें नहीं आयेगा। प्रकृतिकी वृत्ति प्रकृतिसे अतीत तत्त्वको कैसे पकड़ेगी? अतः यह विचार आप पक्का कर लो कि तत्त्वकी प्राप्ति करण-निरपेक्ष है, करण-सापेक्ष नहीं है। करण-निरपेक्षको हम कैसे मानें? करणकी तरफसे आप चुप हो जाओ। करणको न अच्छा समझो, न मन्दा समझो। यदि करणको कर्ता ग्रहण नहीं करे तो कर्ता करणसे स्वतः अलग है। करणसे अपनेको अलग अनुभव करके चुप हो जाओ। अगर हो सके तो सेकेण्ड, दो सेकेण्ड चुप हो जाओ, चिन्तन कुछ भी मत करो—‘आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्’ (गीता ६। २५)। कुछ भी चिन्तन नहीं करोगे तो आपकी स्थिति स्वरूपमें होगी। यह बहुत ही बढ़िया साधन है।

हम कुछ भी चिन्तन नहीं करते, पर चिन्तन हो जाता है तो क्या करें? इस विषयमें एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि जब कोई चिन्तन आता है, तब साधक उसको हटाता है। साधन करनेवालोंका प्रायः यही उद्योग रहता है कि दूसरी बात याद आये तो उसको हटाओ और परमेश्वरमें

लगाओ। इस उद्योगसे जल्दी सिद्धि नहीं होती, साधक जल्दी सफल नहीं होता। सफलताकी कुंजी यह है कि उस चिन्तनकी उपेक्षा कर दो। कोई ऊँची या नीची वृत्ति आये तो उसको महत्त्व मत दो। वृत्तिको न हटाओ और न लगाओ। हटाओ तो वृत्तिको महत्त्व दिया और लगाओ तो वृत्तिको महत्त्व दिया। वृत्तिको महत्त्व देनेसे जड़ताका महत्त्व आयेगा, स्वरूपका महत्त्व नहीं रहेगा। यह मार्मिक बात है। आपकी दृष्टि इधर हो जाय, इसलिये कहता हूँ कि यह बात मेरेको बहुत प्रिय लगी है, बहुत उत्तम लगी है। इससे बहुत लाभ होता है।

मन-बुद्धिकी उपेक्षा करो। उसमें अच्छा-मन्दा कुछ भी आये, कुछ भी चिन्तन मत करो। जो चिन्तन आ जाय, उसकी उपेक्षा कर दो। उसके साथ विरोध मत करो, उसको हटाओ मत, पकड़ो मत। यदि यह उपेक्षा करनेकी अटकल आ जाय तो बहुत लाभ होगा। चिन्तनसे उदासीन हो जाओ। न उसको भला समझो, न उसको बुरा समझो। भला समझनेसे भी सम्बन्ध जुड़ता है और बुरा समझनेसे भी सम्बन्ध जुड़ता है। जिन्होंने भगवान्से प्रेम किया, उनका भी उद्धार हुआ और जिन्होंने भगवान्से वैर किया, उनका भी उद्धार हुआ। परन्तु जिन्होंने कुछ भी नहीं किया, उनका उद्धार नहीं हुआ। अतः संसारसे प्रेम करोगे तो फँसोगे, वैर करोगे तो फँसोगे; क्योंकि प्रेम या वैर करनेसे संसारका सम्बन्ध हो जायगा। संसारका सम्बन्ध तोड़ना ज्ञानयोगकी खास बात है।

विवेक सत्-असत्का निर्णय करता है। अतः विवेकको महत्त्व देकर असत्की उपेक्षा कर दो। वृत्तियाँ पैदा होती हैं और नष्ट होती हैं, इस कारण ये असत् हैं। जिसका उत्पत्ति-विनाश होता है तथा जिसका आरम्भ और अन्त होता है, वह असत् है। जो असत् है, वह अपने-आप मिटता है; अतः उसको मिटानेका उद्योग करना बिलकुल निरर्थक है। जो उत्पन्न हुआ है, उसका खास काम मिटना ही है। लड़का पैदा हुआ तो उसका आवश्यक काम क्या है? आवश्यक काम है—मरना! वह बड़ा होगा कि नहीं, उसका ब्याह होगा कि नहीं, उसके बेटा-बेटी होंगे कि नहीं—इसमें सन्देह है, पर वह मरेगा कि नहीं—इसमें सन्देह नहीं है। अतः उसका खास काम मरना ही है। इसी तरह वृत्ति पैदा हुई तो उसका खास काम नष्ट होना ही है। इसलिये उसको नष्ट करनेके लिये उद्योग करना, बल लगाना, बुद्धि लगाना, समय लगाना बिलकुल मूर्खता है और उसको रखनेकी चेष्टा करना भी मूर्खता है। जो चीज रहेगी ही नहीं, उसको रखनेकी इच्छा करना ही तो महान् दुःख है। परन्तु हमारे भाई चेतते ही नहीं, क्या करें! न तो रखनेकी इच्छा करनी है और न हटानेकी इच्छा करनी है; किन्तु अपने कर्तव्यका पालन करना है, जिससे सबको सुख हो, आराम हो। जो अपने-आप मिट जायगी, रहेगी नहीं, उसकी उपेक्षा कर दो—‘देखो निरपख होय तमाशा’। यह बहुत लाभकी चीज है। अतः बुद्धिसे तटस्थ हो जाओ कि हमें मतलब नहीं इससे। तटस्थ हुआ नहीं जाता—ऐसा मत मानो। अभी ऐसा दीखता है कि इससे हम अलग नहीं हो सकते, पर ऐसी बात है नहीं। इसके लिये युक्ति बतायी कि आप बुद्धिके हो या बुद्धि आपकी है? यह मामूली बात नहीं है, बहुत ही कामकी बात है। बुद्धिके हम नहीं हैं, हमारी बुद्धि है। हमारी बुद्धि है; अतः इसको हम काममें लें या न लें। परन्तु हम बुद्धिके होते तो मुश्किल हो जाती!

वृत्तिकी उपेक्षा करो तो आपकी स्वरूपमें स्थिति स्वतःसिद्ध है। परन्तु वृत्तिका निरोध करनेमें बहुत अभ्यास करना पड़ेगा। वृत्तिकी उपेक्षामें कोई अभ्यास नहीं है। गीताका योग क्या है? ‘समत्वं योग उच्यते’ (२। ४८)। ‘सम’ नाम परमात्माका है। परमात्मामें स्थित होना गीताका योग है और चित्तवृत्तियोंका निरोध करना योगदर्शनका योग है। आप कहते हैं कि मन नहीं रुकता! पर मन रोकनेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है परमात्मामें स्थित होनेकी। जहाँ आप चुप होते हैं, वहाँ आप

परमात्मामें ही हैं और परमात्मामें ही रहोगे; क्योंकि कोई भी क्रिया, वृत्ति, पदार्थ, घटना, परिस्थिति परमात्माको छोड़कर हो सकती है क्या? वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, घटना आदिकी उपेक्षा कर दो तो परमात्मामें ही स्थिति होगी। हाँ, इसमें नींद-आलस्य नहीं होना चाहिये। नींदमें तो अज्ञान (अविद्या)-में डूब जाओगे। नींद खुलनेपर कहते हैं कि 'मेरेको कुछ पता नहीं था', पर आप तो उस समय थे ही। अतः नींद-आलस्य तो हो नहीं और चलते-फिरते भी आप चुप हो जायँ, कुछ भी चिन्तन न करें। यह गीताका योग है। इससे बहुत जल्दी सिद्धि होगी। योगदर्शनके योगमें बहुत समय लगेगा। आप परमात्मामें वृत्ति लगाओगे तो वृत्ति आपका पिण्ड नहीं छोड़ेगी, वृत्ति साथ रहेगी। इसलिये मन-बुद्धिकी उपेक्षा करो, उनसे उदासीन हो जाओ। अभी लाभ मत देखो कि हुआ तो कुछ नहीं! आप इसकी उपेक्षा कर दो। दवाईका सेवन करो तो वह गुण करेगी ही।

====:0:====

चौथा अध्याय

प्रकृतिके सम्बन्धके बिना तत्त्वका चिन्तन, मनन आदि नहीं हो सकता। अतः तत्त्वका चिन्तन करेंगे तो चित्त साथमें रहेगा, मनन करेंगे तो मन साथमें रहेगा, निश्चय करेंगे तो बुद्धि साथमें रहेगी, दर्शन करेंगे तो दृष्टि साथमें रहेगी, श्रवण करेंगे तो श्रवणेन्द्रिय साथमें रहेगी, कथन करेंगे तो वाणी साथमें रहेगी। ऐसे ही 'है' को मानेंगे तो मान्यता तथा माननेवाला रह जायगा और 'नहीं' का निषेध करेंगे तो निषेध करनेवाला रह जायगा। कर्तृत्वाभिमानका त्याग करेंगे तो 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—यह सूक्ष्म अहंकार रह जायगा अर्थात् त्याग करनेसे त्यागी (त्याग करनेवाला) रह जायगा। इसलिये न मान्यता करें, न निषेध करें; न ग्रहण करें, न त्याग करें, प्रत्युत जैसे हैं, वैसे रहें अर्थात् 'है' में स्थिर होकर बाहर-भीतरसे चुप हो जायँ। चुप होना है—यह आग्रह (संकल्प) भी न रखें, नहीं तो कर्तृत्व आ जायगा; क्योंकि चुप स्वतःसिद्ध है।

मैं, तू, यह, वह—इन चारोंको छोड़ दें तो एक 'है' (सत्तामात्र) रह जाता है। उस 'है' में स्थिर (चुप) हो जायँ तथा अपनी ओरसे कुछ भी चिन्तन न करें। यदि अपने-आप कोई चिन्तन हो जाय तो उससे न राग करें, न द्वेष करें; न राजी हों, न नाराज हों; न अच्छा मानें, न बुरा मानें। उसको न अपना मानें, न अपनेमें मानें, प्रत्युत उसकी उपेक्षा कर दें, उससे उदासीन हो जायँ। वास्तवमें वह अपनेमें नहीं है। उससे राग-द्वेष करना द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व तत्त्वके अनुभवमें खास बाधा है—'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ' (गीता ३। ३४)।

इस प्रकार यदि एक-दो सेकेण्ड भी चुप (सत्तामात्रमें स्थिर) हो जायँ तो उससे एक शक्ति मिलेगी, जो संयोगकी रुचिका, संसारकी आसक्तिका नाश कर देगी। कारण कि अक्रिय तत्त्वमें अपार शक्ति है। सभी शक्तियाँ अक्रिय तत्त्व ('है')-से ही प्रकट होती हैं, उसीमें स्थित रहती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं। संसारमें प्रत्येक क्रियाके बाद अक्रियता आती है और उस अक्रियतासे ही पुनः क्रिया करनेकी शक्ति मिलती है। जैसे, बोलते-बोलते कुछ देर चुप हो जायँ तो पुनः बोलनेकी शक्ति आ जाती है। चलते-चलते थककर गिर जायँ तो कुछ देर ठहरनेसे पुनः चलनेकी शक्ति आ जाती है। दिनभर कार्य करते-करते रात्रिमें सो जायँ तो पुनः शरीरमें ताजगी, कार्य करनेकी शक्ति आ

जाती है। इस प्रकार प्रत्येक क्रिया, वृत्ति आदिकी सन्धिमें वह अक्रिय तत्त्व झलकता है—

सब वृत्ति हैं गोपिका, साक्षी कृष्ण स्वरूप।
सन्धिमें झलकत रहे, यह है रास अनूप॥

उस अक्रिय तत्त्वमें चुप हो जायँ तो उस स्वतःसिद्ध तत्त्वका अनुभव हो जायगा। वास्तवमें चुप स्वतः, स्वाभाविक और सहज है। इसमें कोई उद्योग नहीं करना है, प्रत्युत केवल 'नहीं' की अस्वीकृति करनी है।

====:0:====

पाँचवाँ अध्याय

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ साधन है—चुप होना अर्थात् कुछ भी चिन्तन न करना। यह सर्वोपरि करण-निरपेक्ष साधन है। चिन्तन करनेसे ही संसारका सम्बन्ध चिपकता है। कारण कि चिन्तन करने, वृत्ति लगानेका अर्थ है—नाशवान्, परिवर्तनशील वस्तुको महत्त्व देना। नाशवान्को महत्त्व देना, उसकी आवश्यकता मानना, उसकी सहायता लेना ही तत्त्वप्राप्तिमें मुख्य बाधा है। अविनाशीकी प्राप्ति नाशवान्के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत नाशवान्के त्यागसे होती है। जडके द्वारा चेतनकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? असत्के द्वारा सत्की प्राप्ति कैसे हो सकती है? परिवर्तनशीलके द्वारा अपरिवर्तनशीलकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? क्षणभंगुरके द्वारा सर्वथा निर्विकार तत्त्वकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? नाशवान्, जड, असत्, परिवर्तनशील, क्षणभंगुरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर तत्त्वकी प्राप्ति स्वतः ही है! इसलिये नाशवान्को महत्त्व देनेका, उसकी सहायता लेनेका भाव साधकको आरम्भसे ही नहीं रखना चाहिये। शास्त्रमें आया है—'देवो भूत्वा देवं यजेत्' 'देवता होकर देवताका पूजन करे।' अतः अक्रिय एवं अचिन्त्य होकर ही अक्रिय एवं अचिन्त्य तत्त्वको प्राप्त करना चाहिये।

गीतामें आया है—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।

(गीता ६। २५)

'परमात्मस्वरूपमें मन (बुद्धि)-को सम्यक् प्रकारसे स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे।'

तात्पर्य है कि सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें एक ही परमात्मतत्त्व 'है' (सत्ता)-रूपसे ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। देश, काल आदिका तो अभाव है, पर परमात्मतत्त्वका नित्य भाव है। इस प्रकार साधक पहले मन-बुद्धिसे यह निश्चय कर ले कि 'परमात्मतत्त्व है'। फिर इस निश्चयको भी छोड़ दे और चुप हो जाय अर्थात् कुछ भी चिन्तन न करे। न तो संसारका चिन्तन करे, न स्वरूपका चिन्तन करे और न परमात्माका ही चिन्तन करे। कुछ भी चिन्तन करेगा तो संसार आ ही जायगा। कारण कि कुछ भी चिन्तन करनेसे चित्त (करण) साथमें रहेगा। करण साथमें रहेगा तो संसारका त्याग नहीं होगा; क्योंकि करण भी संसार ही है। इसलिये 'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' (कुछ भी चिन्तन न करे)—इसमें करणसे सम्बन्ध-विच्छेद है; क्योंकि जब करण साथमें नहीं रहेगा, तभी असली ध्यान होगा। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चिन्तन करनेपर भी वृत्ति रहती ही है, वृत्तिका अभाव नहीं होता। परन्तु कुछ भी चिन्तन करनेका भाव न रहनेसे वृत्ति स्वतः शान्त हो जाती है।

अतः साधकको चिन्तनकी सर्वथा उपेक्षा करनी है।

कुछ भी चिन्तन न करनेके बाद यदि अपने-आप कोई चिन्तन आ जाय तो साधक उससे न राग करे, न द्वेष करे; न उसको अच्छा माने, न बुरा माने और न अपनेमें माने। चिन्तन करना नहीं है, पर चिन्तन हो जाय तो उसका कोई दोष नहीं है। अपने-आप हवा बहती है, सरदी-गरमी आती है, वर्षा होती है तो उसका हमें कोई दोष नहीं लगता। दोष तो करनेका लगता है। अतः चिन्तन हो जाय तो उसकी उपेक्षा रखे, उसके साथ अपनेको मिलाये नहीं अर्थात् ऐसा न माने कि चिन्तन मेरेमें होता है और मेरा होता है। चिन्तन मनमें होता है और मनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

साधकमें चिन्तन न करनेका भी आग्रह नहीं होना चाहिये। उसमें न मन लगानेका आग्रह हो, न मन हटानेका आग्रह हो; न मनको स्थिर करनेका आग्रह हो, न मनकी चंचलता मिटानेका आग्रह हो; न किसी वृत्तिको लानेका आग्रह हो, न किसी वृत्तिको हटानेका आग्रह हो; न आँख-कान खोलनेका आग्रह हो, न आँख-कान बन्द करनेका आग्रह हो; न कुछ करनेका आग्रह हो, न कुछ नहीं करनेका आग्रह हो—‘नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन’ (गीता ३। १८)। इस प्रकार कोई भी आग्रह न रखकर साधक उदासीन हो जाय तथा चुप हो जाय।

जैसे नींद लेनेके लिये कोई उद्योग, परिश्रम नहीं करना पड़ता, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक नींद आती है, ऐसे ही चुप होनेके लिये कोई उद्योग नहीं करना है, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक चुप, शान्त हो जाना है। साधक दिनमें कई बार, काम करते-करते एक-दो सेकेण्डके लिये भी चुप, शान्त हो जाय तो उसको वास्तवमें चुप होना आ जायगा अर्थात् जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद तथा स्वतःसिद्ध तत्त्वका अनुभव हो जायगा। फिर वह सब कार्य करते हुए भी निरन्तर चुप रहेगा, यही समाधिसे भी ऊँची ‘सहजावस्था’ है। अवस्थाके संस्कारवालोंको समझानेके लिये इसको ‘सहजावस्था’ कह देते हैं, पर वास्तवमें यह अवस्था नहीं है, प्रत्युत अवस्थातीत है। कारण कि अवस्था प्रकृतिमें होती है, तत्त्वमें नहीं। वास्तवमें चुप-साधनसे साधक सहजावस्था (सहज समाधि), तत्त्वज्ञान, जीवन्मुक्ति, भगवद्दर्शन आदि जो चाहता है, वही उसको मिल जाता है। चुप होनेसे साधक स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे सुगमतापूर्वक अतीत हो जाता है तथा उसका अहम् अपने-आप मिट जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि किसी भी योगमार्गका साधक क्यों न हो, चुप-साधन सभीके लिये अत्यन्त उपयोगी है। यह चुप-साधन सभी शक्तियोंका खजाना है; क्योंकि सम्पूर्ण शक्तियाँ अक्रिय तत्त्वसे ही पैदा होती हैं और उसीमें लीन होती हैं। इस साधनसे एक विलक्षण शान्ति मिलती है, जिससे राग-द्वेषादि दोषोंको दूर करनेकी सामर्थ्य स्वतः आती है और अनुकूलता-प्रतिकूलताका असर नहीं पड़ता। इतना ही नहीं, जो लाभ धर्ममेघ समाधिसे भी नहीं होता, वह लाभ चुप-साधनसे हो जाता है। तात्पर्य है कि चुप-साधन सम्पूर्ण साधनोंका अन्तिम साधन है, जिससे पूर्णता हो जाती है अर्थात् ‘वासुदेवः सर्वम्’ (सब कुछ परमात्मा ही हैं)—ऐसा अनुभव हो जाता है।

====0:====

छठा अध्याय

अपनी सत्ता (होनापन) सत् है और मैं-पन (अहंकार) असत् है। असत्का त्याग करनेसे सत्का

संग अर्थात् सत्में प्रेम होता है, सत्का साक्षात्कार होता है, सत्में निष्ठा होती है, सत्में स्थिति होती है। वास्तवमें असत् निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है। जो निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है, उसका ही त्याग करना है अर्थात् उसीसे विमुख होना है। शरीर निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है, प्राण निरन्तर हमारा त्याग कर रहे हैं, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ निरन्तर हमारा त्याग कर रही हैं। हम निरन्तर जी रहे हैं—यह तो वहम है, पर हम निरन्तर मर रहे हैं—यह सच्ची बात है। शरीर निरन्तर हमारेसे अलग हो रहा है—यही उसका निरन्तर मरना है। हम स्वयं ज्यों-के-त्यों हैं। स्वयंकी जो सत्ता बचपनमें थी, वही आज भी है। परन्तु शरीर जो बचपनमें था, वही आज है—ऐसा हम नहीं कह सकते। शरीर वह नहीं है, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ वे नहीं हैं, भाव वे नहीं हैं, सिद्धान्त वे नहीं हैं, सामग्री वह नहीं है, साथी वे नहीं हैं, देश (स्थान) वह नहीं है, काल वह नहीं है, अवस्था वह नहीं है, परिस्थिति वह नहीं है; परन्तु मैं स्वयं वही हूँ जो पहले था। 'मैं वही हूँ'—इसमें स्थिति होनेका नाम ही तत्त्वकी प्राप्ति है। इसीको जीवन्मुक्ति, तत्त्वज्ञान, कल्याण, उद्धार कहते हैं। यही असली सत्संग है। इसका उपाय यह है कि जब सुषुप्तिसे जाग्रत्में आये अर्थात् नींदसे जग जायँ, तब अपने बिछौनेपर ही सुखपूर्वक बैठ जायँ और जाग्रत्में सुषुप्तिका अनुभव करें। तात्पर्य है कि जैसे सुषुप्तिमें कुछ भी याद नहीं था, अहम् भी याद नहीं था, ऐसे ही जाग्रत्में भी अहम्की याद न रहे अर्थात् अहम्की उपेक्षा कर दें।

अहम् नहीं है—इसमें 'नहीं' भी अहम् है और 'है' भी अहम् है। कारण कि 'नहीं' की अपेक्षा 'है' और 'है' की अपेक्षा 'नहीं' है। तत्त्वमें 'नहीं' और 'है' दोनों ही नहीं हैं अर्थात् तत्त्व निरपेक्ष है। इस प्रकार 'अहम् नहीं है'—इसका भी निषेध कर दें और चुप हो जायँ। कुछ भी चिन्तन न करें, न संसारका, न परमात्माका, न स्वयंका। अगर चिन्तन आता है तो उसकी उपेक्षा कर दें। जो अपने-आप आता है, उसके पाप-पुण्यके भागी हम नहीं बनते। जैसे, संसारमें बहुत-सी हत्याएँ होती हैं और बहुत-सा उपकार होता है, पर हम न तो हत्याके पापके भागी होते हैं, न उपकारके पुण्यके भागी होते हैं। कारण कि वह होता है, हम नहीं करते। जो होता है, उसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। जो होता है, वह मिटता है। जो मिटता है, वह असत् है। जो असत् है, उसका हमारेसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद है।

संकल्प पहले नहीं था, पीछे पैदा हो गया और फिर मिट जायगा। संकल्पका होना भी मिटनेमें है और मिटना भी मिटनेमें है। मिटनेके प्रवाहको ही होना कहते हैं। मरनेके प्रवाहको ही जीना कहते हैं। अतः जो संकल्प अपने-आप होता है, उसकी उपेक्षा कर दें। उसको न अच्छा समझें, न बुरा समझें; न अपना समझें, न दूसरेका समझें। वह बना रहे—यह भावना भी न करें और वह मिट जाय—यह भावना भी न करें। यही जीवन्मुक्त-अवस्था है। गीतामें आया है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।

न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

(१४। २२)

'हे पाण्डव ! प्रकाश, प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य 'ये क्यों आ गये'—ऐसे इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो इनके आनेकी इच्छा नहीं करता।'

मनमें कोई भाव आ गया तो वह जायगा—यह नियम है। जो उत्पन्न हुआ है, वह मरेगा—यह नियम है। जाते हुएको हम भूलसे आया हुआ मान लेते हैं। वास्तवमें वह आया नहीं है, प्रत्युत जा रहा है। उत्पन्न नहीं हुआ है, प्रत्युत मर रहा है। जो जा रहा है, मर रहा है, उसके लिये क्या

हर्ष और क्या शोक? क्या राजी और क्या नाराजी? जो जा रहा है, उसकी तरफ दृष्टि न डालें। सात्त्विक वृत्ति आयी या राजसी वृत्ति आयी अथवा तामसी वृत्ति आयी; संयोग हुआ या वियोग हुआ; आया या गया, कुछ न देखें—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥

(गीता १४। २३)

‘जो उदासीनकी तरह स्थित है* और जो गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता तथा गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—इस भावसे जो अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है और स्वयं कोई भी चेष्टा नहीं करता।’

वास्तवमें न कुछ आया है, न गया है; न उत्पन्न हुआ है, न नष्ट हुआ है, प्रत्युत गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं। अपना उससे कुछ प्रयोजन नहीं, कुछ लेन-देन नहीं। इस प्रकार तटस्थ रहकर चुप, शान्त हो जायँ तो हमारी स्थिति स्वतः तत्त्वमें ही रहेगी। तत्त्वमें स्वतः—स्वाभाविक स्थितिका नाम ही जीवन्मुक्ति है, कल्याण है, उद्धार है।

====:0:====

सातवाँ अध्याय

परमात्मा सब जगह समान रीतिसे परिपूर्ण हैं। ऐसे परिपूर्ण तत्त्वकी प्राप्ति क्रियासे नहीं होती—यह मार्मिक बात है! क्रिया उसके लिये होती है, जो वस्तु दूसरे देशमें हो। परमात्मा सर्वदेशमें सर्वथा परिपूर्ण है। अतः उसकी प्राप्तिमें क्रिया हेतु नहीं होती, प्रत्युत स्थिरता हेतु होती है। क्रिया और पदार्थ सांसारिक उन्नतिमें हेतु होते हैं। परन्तु पारमार्थिक उन्नतिमें क्रिया और पदार्थ बाधक होते हैं। क्रिया और पदार्थ आदि-अन्तवाले हैं। आदि-अन्तवाली वस्तु परमात्मप्राप्तिमें कारण कैसे बनेगी? परमात्माकी प्राप्तिमें खास मार्मिक हेतु है—कुछ न करना। आप जहाँ हो, वहाँ ही चुप हो जाओ; क्योंकि वहाँ ही परमात्मा है। इसलिये परमात्मप्राप्तिके लिये जगह-जगह भटकनेकी जरूरत नहीं है। परमात्मा सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदिमें समान रूपसे परिपूर्ण है। उसकी प्राप्ति चुप होनेसे, कुछ भी चिन्तन न करनेसे होती है।

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा।

कनिष्ठा शास्त्रचिन्ता च तीर्थयात्राऽधमाऽधमा॥

अर्थात् तीर्थयात्रा अधम-से-अधम है। उससे ऊँचा शास्त्रचिन्तन है। शास्त्रचिन्तनसे ऊँची ध्यान-धारणा है; और सबसे ऊँची सहजावस्था है। सहजावस्थासे जो चीज मिलती है, वह ध्यान-धारणा, शास्त्रचिन्तन और तीर्थयात्रासे नहीं मिलती। आप जहाँ ध्यान, धारणा, चिन्तन करते हैं, क्या वहाँ परमात्मा नहीं है? जहाँसे आपका चिन्तन शुरू होता है, क्या वहाँ परमात्मा नहीं है? कोई नहीं कह सकता कि वहाँ परमात्मा नहीं है। जो लोग सर्वथा बहिर्मुख हैं, उनके लिये तीर्थयात्रा मुख्य

* एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, फिर किससे उदासीन हों? इसलिये यहाँ ‘उदासीनवत्’ ‘उदासीनकी तरह’ कहा है।

है; क्योंकि वे रात-दिन संसारमें ही लगे हुए हैं। अतः तीर्थोंमें मन्दिरोंका, सन्तोंका दर्शन करनेसे उनकी बुद्धि शुद्ध होगी। नामजप, कीर्तन, परोपकार, तीर्थयात्रा आदि सब उस स्थिति (स्थिरता)-के लिये है। जिनमें स्थिरताकी, चुप होनेकी योग्यता नहीं है, उनको ये साधन करके योग्यता प्राप्त करनी चाहिये। क्रियाके द्वारा शुद्धि होती है, परमात्मप्राप्तिकी योग्यता प्राप्त होती है। छतपर चढ़नेके लिये सीढ़ीकी आवश्यकता होती है, पर छतपर पहुँचनेके बाद सीढ़ीकी क्या जरूरत है?

अगर आप उस तत्त्वकी जल्दी प्राप्ति चाहते हैं तो शान्त हो जाइये। प्रत्येक क्रिया अक्रिया (स्थिरता)-से ही पैदा होती है और अक्रियामें ही समाप्त होती है। अतः स्थिरता असली साधन है; क्योंकि स्थिर वस्तु ही वास्तवमें तत्त्व है। पर इस तरफ बहुत-से भाई-बहनोंका ध्यान नहीं है। चिन्तन करते ही हम परमात्मासे दूर होते हैं, पर यह बात हरेकको कहनेकी नहीं है; क्योंकि इस बातको समझे बिना वह पहले ही परमात्मासे दूर हो जायगा! पहले यह दृढ़ निश्चय करे कि परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है, फिर चिन्तनका त्याग कर दे।

====:0:====

आठवाँ अध्याय

ध्यानयोगके दो प्रकार हैं—(१) मनको एकाग्र करना और (२) विवेकपूर्वक मनसे सम्बन्ध-विच्छेद करना। विवेकपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेदसे तत्काल मुक्ति होती है। संसारमें कितना पाप-पुण्य होता है, पर उसके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं, ऐसे ही शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके साथ भी हमारा सम्बन्ध नहीं है। इसीको 'उपरति' कहते हैं। चिन्तन करनेकी वृत्तिसे भी सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें आया है—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।

परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः ॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १८)

'पूर्वोक्त साधन (मन-वाणी-शरीरकी सभी क्रियाओंसे परमात्माकी उपासना) करनेवाले भक्तका 'सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है'—ऐसा निश्चय हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्याके द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगें।'

सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें एक ही परमात्मतत्त्व सत्तारूपसे ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। देश, काल आदिका तो अभाव है, पर परमात्मतत्त्वका नित्य भाव है। इस प्रकार साधक पहले मन-बुद्धिसे यह निश्चय कर ले कि 'परमात्मतत्त्व है'। फिर इस निश्चयको भी छोड़ दे और चुप हो जाय अर्थात् कुछ भी चिन्तन न करे। आत्माका, अनात्माका, परमात्माका, संसारका, संयोगका, वियोगका कुछ भी चिन्तन न करे। कुछ भी चिन्तन करेगा तो संसार आ ही जायगा। कारण कि कुछ भी चिन्तन करनेसे चित्त (करण) साथमें रहेगा। करण साथमें रहेगा तो संसारका त्याग नहीं होगा; क्योंकि करण भी संसार ही है। जब करण साथमें नहीं रहेगा, तभी असली ध्यान होगा। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चिन्तन करनेपर भी वृत्ति रहती ही है, वृत्तिका अभाव नहीं होता।

परन्तु कुछ भी चिन्तन करनेका भाव न रहनेसे वृत्ति स्वतः शान्त हो जाती है। अतः साधकको चिन्तनकी सर्वथा उपेक्षा करनी है। जैसे जलके स्थिर (शान्त) होनेपर उसमें मिली हुई मिट्टी शनैः-शनैः अपने-आप नीचे बैठ जाती है, ऐसे ही चुप होनेपर सब विकार शनैः-शनैः अपने-आप शान्त हो जाते हैं, अहम् गल जाता है और वास्तविक तत्त्व (अहंरहित सत्ता)-का अनुभव हो जाता है।

साधक मैं, तू, यह और वह—इन चारोंको छोड़ दे तो एक 'है' (सत्तामात्र) रह जाता है। उस स्वतःसिद्ध 'है' को स्वीकार कर ले तथा अपनी ओरसे कुछ भी चिन्तन न करे। यदि अपने-आप कोई चिन्तन आ जाय तो उससे न राग करे, न द्वेष करे; न राजी हो, न नाराज हो; न उसको अच्छा माने, न बुरा माने और न अपनेमें माने, चिन्तन करना नहीं है, पर चिन्तन हो जाय तो उसका कोई दोष नहीं है। अपने-आप हवा बहती है, सरदी-गरमी आती है, वर्षा होती है तो उसका हमें कोई दोष नहीं लगता; क्योंकि उसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है। दोष तो जड़तासे सम्बन्ध जोड़नेसे लगता है। अतः चिन्तन हो जाय तो उसकी उपेक्षा रखे, उसके साथ अपनेको मिलाये नहीं अर्थात् ऐसा न माने कि मैं चिन्तन करता हूँ और चिन्तन मेरेमें होता है। चिन्तन मनमें होता है और मनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

जैसे 'यह अमुक गाँव है'—ऐसी मान्यता दृढ़ होनेसे इसका चिन्तन नहीं करना पड़ता, ऐसे ही 'परमात्मा हैं'—ऐसी मान्यता दृढ़ रहे तो फिर इसका चिन्तन नहीं करना पड़ेगा। जो स्वतःसिद्ध है, उसका चिन्तन क्या करें? इसलिये आत्मचिन्तन करनेसे आत्मबोध नहीं होता; क्योंकि आत्मचिन्तन करनेसे चिन्तक रहता है और अनात्माकी सत्ता रहती है। अनात्माकी सत्ता मानेंगे, तभी तो अनात्माका त्याग और आत्माका चिन्तन करेंगे!

इसको 'चुप साधन', 'मूक सत्संग' और 'अचिन्त्यका ध्यान' भी कहते हैं। इसमें न तो स्थूलशरीरकी क्रिया है, न सूक्ष्मशरीरका चिन्तन है और न कारणशरीरकी स्थिरता है। इसमें इन्द्रियाँ भी चुप हैं, मन भी चुप है, बुद्धि भी चुप है अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी कोई क्रिया नहीं है। सभी चुप हैं, कोई बोलता नहीं! जो देखना था वह देख लिया, सुनना था वह सुन लिया, बोलना था वह बोल लिया, करना था वह कर लिया, अब कुछ भी देखने, सुनने, बोलने, करने आदिकी रुचि नहीं रही—ऐसा होनेपर ही 'चुप साधन' होता है। यह 'चुप साधन' समाधिसे भी ऊँचा है; क्योंकि इसमें बुद्धि और अहम्से सम्बन्ध-विच्छेद है। समाधिमें तो लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद—ये चार दोष (विघ्न) रहते हैं, पर चुप साधनमें ये दोष नहीं रहते। चुप साधन वृत्तिरहित है।

====:0:====

नवाँ अध्याय

क्रिया और पदार्थ प्रकृतिके हैं। जो प्रकृतिसे अतीत तत्त्व है, वह क्रिया और पदार्थसे रहित, सम, शान्त है। उसी तत्त्वको हमें प्राप्त करना है। वह तत्त्व सबके भीतर समाया हुआ है। परन्तु मनुष्यकी बुद्धि क्रिया और पदार्थपर ही लगी हुई है!

मैंने संस्कृत व्याकरणकी पढ़ाई की है। व्याकरणमें विषयको याद करना पड़ता है। मैंने याद किया है और उसके सूत्र मुझे अभीतक याद हैं। मैंने इस विधिसे याद किया। एक-डेढ़ घण्टा

खूब रटकर फिर चुप हो गया। फिर दिनभर दूसरा काम किया। फिर रातको सोते समय उस पाठको बिना पुस्तकके बड़ी कठिनतासे पाठ करके सो गया। सुबह नींदसे उठते ही उसका पाठ किया तो वह बड़ी सुगमतासे धड़ाधड़ याद आ गया! कहीं अटका ही नहीं! यह मेरा अनुभव किया हुआ है। आप भी अनुभव करके देखो। तात्पर्य है कि चुप होनेमें बहुत शक्ति है। सब शक्तियाँ चुप रहनेसे ही पैदा होती हैं। आप चलते-चलते थक जाते हो तो थोड़ी देर बैठनेसे पुनः चलनेकी शक्ति मिल जाती है। बन्दर चलते-चलते बैठ जाता है, फिर चल पड़ता है। तात्पर्य है कि विश्रामके बिना आपका कोई कार्य नहीं होता। चलनेसे शक्ति खर्च होती है, बैठनेसे शक्ति संचित होती है। बोलनेसे शक्ति खर्च होती है, चुप रहनेसे शक्ति संचित होती है। **चुप सबको होना पड़ता है। 'चुप' का कोई निषेध नहीं कर सकता।**

आप कोई भी काम करो तो पहले चुप हो जाओ। चुप, शान्त होनेका स्वभाव बना लो। कोई भी चिन्तन मत करो, न आत्माका, न परमात्माका, न संसारका। इसमें बड़ी विलक्षण, अलौकिक शक्ति है। इस प्रकार आधा मिनट, पाव मिनट भी चुप होनेके बाद काम करो तो आपका काम बहुत बढ़िया होगा। लौकिक और पारमार्थिक दोनों लाभ होंगे। व्यवहार भी अच्छा होगा, परमार्थ भी अच्छा होगा। परन्तु नींद नहीं आनी चाहिये। नींदमें वह शक्ति नहीं है। नींदसे विश्राम तो मिलता है, शरीर स्वस्थ होता है, पर परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती।

सत्संग सुननेसे पहले चुप हो जाओ, फिर सुनो तो सत्संग बहुत समझमें आयेगा। बोलनेसे पहले चुप हो जाओ, फिर बोलो तो बहुत बढ़िया बातें आयेंगी। उस 'चुप' में साक्षात् सच्चिदानन्दधन परमात्मा हैं। जिस मुक्तिको, ज्ञानको आप प्राप्त करना चाहते हैं, वह उस 'चुप' में है। चुप होनेमें एक विलक्षण शक्ति है। वह शक्ति साक्षात् परमात्मा स्वयं हैं।

====0:====

दसवाँ अध्याय

(प्रश्नोत्तर)

प्रश्न—चुप-साधन सुगमतापूर्वक कैसे होता है?

स्वामीजी—मेरेको बैठना है, चुप-साधन करना है—ऐसा संकल्प रहनेसे चुप-साधन बढ़िया नहीं होता; क्योंकि वृत्तिमें गर्भ रहता है। मेरेको कुछ नहीं करना है—यह भी 'करना' ही है। चुप-साधन बढ़िया तब होता है, जब कुछ करनेकी रुचि न रहे। जो देखना था, देख लिया; सुनना था, सुन लिया; बोलना था, बोल लिया। इस प्रकार कुछ भी देखने, सुनने, बोलने आदिकी रुचि न रहे। रुचि रहनेसे चुप-साधन बढ़िया नहीं होता।

प्रश्न—कुछ करनेकी रुचि न रहे तो सिद्धि हो गयी, फिर साधन कैसे होगा?

स्वामीजी—सिद्धि होनेपर रुचि नहीं रहती—इतनी ही बात नहीं है, प्रत्युत असत्की सत्ता ही उठ जाती है! न करनेकी रुचि रहती है, न नहीं करनेकी रुचि रहती है—'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन' (गीता ३। १८)। अतः रुचि न रहनेसे ही सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत असत्की सत्ता न रहनेसे सिद्धि होती है। सर्वथा रुचि न मिटनेपर भी चुप-साधन हो सकता है।

प्रश्न—चुप-साधनमें बाधक क्या है ?

स्वामीजी—पदार्थ और क्रियाका आकर्षण अर्थात् पदार्थकी आसक्ति और करनेका वेग चुप-साधनमें बाधक है।

प्रश्न—चुप-साधन और समाधिमें क्या अन्तर है ?

स्वामीजी—चुप-साधन समाधिसे श्रेष्ठ है; क्योंकि इससे समाधिकी अपेक्षा शीघ्र तत्त्वप्राप्ति होती है। चुप-साधन स्वतः है, कृतिसाध्य नहीं है, पर समाधि कृतिसाध्य है। चुप होनेमें सब एक हो जाते हैं, पर समाधिमें सब एक नहीं होते। समाधिमें समय पाकर स्वतः व्युत्थान होता है, पर चुप-साधनमें व्युत्थान नहीं होता। चुप-साधनमें वृत्तिसे सम्बन्ध-विच्छेद है, पर समाधिमें वृत्तिकी सहायता है।

प्रश्न—चुप-साधनमें चिन्तनकी उपेक्षा कौन करता है ?

स्वामीजी—उपेक्षा स्वयं करता है, जो कर्ता है अर्थात् जिसमें कर्तृत्व है। सिद्ध होनेपर वह स्वभाव बन जाता है, उसका कर्तृत्व नहीं रहता।

प्रश्न—उपेक्षा अथवा साक्षीका भाव रहेगा तो बुद्धिमें ही ?

स्वामीजी—भाव तो बुद्धिमें रहेगा, पर उसका परिणाम स्वयं (स्वरूप)-में होगा; जैसे—युद्ध तो सेना करती है, पर विजय राजाकी होती है। उपेक्षासे, उदासीनतासे स्वयंका जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

प्रश्न—जाग्रत्-सुषुप्तिके क्या लक्षण हैं ?

स्वामीजी—जब न तो स्थूलशरीरकी 'क्रिया' हो, न सूक्ष्मशरीरका 'चिन्तन' हो और न कारणशरीरकी 'निद्रा' तथा 'बेहोशी' हो, तब जाग्रत्-सुषुप्ति होती है। जाग्रत्-सुषुप्ति और चुप-साधन एक ही हैं।

समाधिमें तो लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद—ये चार दोष (विघ्न) रहते हैं, पर जाग्रत्-सुषुप्तिमें ये दोष नहीं रहते। ध्येय परमात्माका होनेसे जब साधककी वृत्तियाँ परमात्मामें लग जाती हैं, तब जाग्रत्-सुषुप्ति होती है। इसमें सुषुप्तिकी तरह बाह्य ज्ञान नहीं रहता, पर भीतरमें ज्ञानका विशेष प्रकाश (स्वरूपकी जागृति) रहता है।

प्रश्न—मन, बुद्धि और अहम्के संस्कार कैसे दूर हों ?

स्वामीजी—मन, बुद्धि और अहम्को छोड़ो मत। उनको देखो मत, प्रत्युत एक 'है' को देखो। एकदेशीयपना मिट जाय—यह भी मत देखो। कुछ भी मत देखो, चुप हो जाओ, फिर सब स्वतः टिक हो जायगा। समुद्रमें बर्फके ढेले तैरते हों तो उनको न गलाना है, न रखना है। इसीको सहजावस्था कहते हैं।

प्रश्न—अपनी सत्तामें जो एकदेशीयपना दीखता है, वह कैसे छूटे ?

स्वामीजी—एकदेशीयपना छोड़नेके लिये 'है' को पकड़ना चाहिये। वस्तुएँ अलग-अलग और एकदेशीय होती हैं, पर उन सबमें 'है' एक ही होता है। कल्पित वस्तुएँ मिट जाती हैं और 'है' रह जाता है। उस 'है' के ऊपर सब वस्तुएँ दीखती हैं; जैसे—है मनुष्य, है वस्तु आदि। परन्तु वस्तुओंके ऊपर 'है' माननेसे 'है' समझमें नहीं आता; जैसे—मनुष्य है, वस्तु है आदि।

सत्ता एक ही है। वही एक सत्ता एकदेशीय होनेसे हमारा स्वरूप है और सर्वदेशीय होनेसे परमात्मा है। शरीरके सम्बन्धसे अपनी सत्ता दीखती है और संसारके सम्बन्धसे परमात्माकी सत्ता

दीखती है। शरीर-संसारका सम्बन्ध न रहे तो एक ही चिन्मय सत्ता रह जाती है और शरीर-संसारकी सत्ता लुप्त हो जाती है। कारण कि शरीर-संसार असत् हैं।

स्वयं परमात्माका ही अंश है। अतः जैसे पानीका लोटा समुद्रमें मिला दें, ऐसे ही स्वयंको परमात्माके अर्पित करके चुप हो जायँ तो वह एकदेशीयता अपने-आप मिट जायगी।

प्रश्न—चुप-साधनके समय मनमें संकल्प-विकल्प हों, तब क्या करें?

स्वामीजी—सबसे पहले इस बातको समझो कि संकल्प-विकल्प मनमें होते हैं, आपमें नहीं होते। मन प्रकृतिका कार्य है, आप परमात्माके अंश हो। अतः संकल्प-विकल्पके साथ आपका सम्बन्ध नहीं है। मनमें संकल्प-विकल्प होते हों तो उनकी उपेक्षा करो। संकल्प-विकल्पका विभाग दूसरा है, आपका विभाग दूसरा है। संकल्प-विकल्प आपके नहीं हैं, आप संकल्प-विकल्पके नहीं हैं।

संकल्प-विकल्प होते हों तो उनका न विरोध करो, न समर्थन करो; न उनको अच्छा समझो, न बुरा समझो, प्रत्युत उनकी उपेक्षा कर दो। उनका विरोध करोगे तो सम्बन्ध जुड़ेगा, समर्थन करोगे तो सम्बन्ध जुड़ेगा। भगवान्के साथ जिसने प्रेम किया, उसका भी कल्याण हो गया और जिसने वैर किया, उसका भी कल्याण हो गया; परन्तु जिसने कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा, उसका कल्याण नहीं हुआ।

एक परमात्मतत्त्व सब जगह ठोस परिपूर्ण है—इसमें स्थित होकर चुप हो जाओ। इसमें मन नहीं लगाना है। यह चुप-साधन बहुत बढ़िया है, पर नींद, आलस्य आ जाय, चिन्तन हो जाय तो ठीक नहीं है। यह साधन यदि हाथ लग जाय तो समझ लो कि भाग्य खुल गया! एक दिनमें विलक्षणता हो जायगी! इसको सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) 'अचिन्त्यका ध्यान' और स्वामी श्रीशरणानन्दजी 'मूक सत्संग' कहते हैं।

चुप-साधनसे पूर्व संकल्प-विकल्प मिटानेके लिये, मनको शान्त करनेके लिये दो स्थूल क्रियाएँ हैं—

(१) थोड़ी देरके लिये बार-बार पलकें झपकाये अर्थात् आँखोंको बार-बार खोले और बन्द करे।

(२) प्रच्छर्दन करके बाह्य कुम्भक करे अर्थात् श्वासको तीन-चार बार जोरसे बाहर छोड़कर फिर श्वासको बाहर ही रोक दे। कुछ देर ऐसा रहनेके बाद फिर धीरे-धीरे श्वास लेना आरम्भ करे।

इन उपायोंसे जब मन शान्त हो जाय, तब यह निश्चय करे कि दसों दिशाओंमें, सब जगह एक परमात्मा ही 'है' (सत्ता)-रूपसे परिपूर्ण है, और वह अपना है। फिर इस निश्चयको भी छोड़कर बाहर-भीतरसे चुप हो जाय।

प्रश्न—चुप, शान्त न हो सकनेमें कारण क्या है?

स्वामीजी—कारण है—मूर्खता। मूर्खता यह है कि करनेसे होगा। वास्तवमें शान्त होनेमें कोई भी असमर्थ नहीं है।

शान्त होनेसे ही विकास होता है। शान्त नहीं होंगे तो विकास नहीं होगा, ह्रास होगा। कारण कि संसार निरन्तर परिवर्तनशील है। इसमें कुछ भी स्थिर नहीं है। अतः जब विकास नहीं होगा तो ह्रास ही होगा; क्योंकि विकास न होनेसे वह अपनी जगह स्थिर तो रहेगा नहीं!

संसारका काम 'करना' है, परमात्माका काम 'न करना' है। 'न करना' तत्त्वज्ञान है और 'करना' मूर्खता है। इसलिये मन-वाणीसे चुप हो जाओ। फिर सब ठीक हो जायगा।

प्रश्न—चुप होनेपर क्या कारणशरीरसे सम्बन्ध रहता है?

स्वामीजी—मैं शान्त रहूँ—ऐसा भाव होनेसे कारणशरीरका सम्बन्ध रहता है। यह भाव न रहे तो कारणशरीरका सम्बन्ध छूट जायगा। परमात्मतत्त्व स्वाभाविक है, उसमें कारणशरीर या व्यक्ति नहीं है। मैं शान्त हूँ—इसमें कारणशरीर है।

एक 'साधन विश्राम' है, जो परिश्रमकी अपेक्षा है। उसके लिये कहा कि चलते-फिरते शान्त होनेका स्वभाव बनायें। एक 'साध्य विश्राम' है, जो निरपेक्ष है। उसके लिये गोस्वामीजीने कहा है—
'पायो परम विश्रामु' (मानस, उत्तर० १३० छं०)।

प्रश्न—एक साधकको चुप होते ही भय लगता है। इसका कारण क्या है? यदि भय लगे तो साधकको क्या करना चाहिये?

स्वामीजी—कुछ हमारे पास है—ऐसा माननेसे ही भय लगता है। भयका कारण शरीरका राग है कि कहीं शरीर छूट न जाय! परन्तु साधकको भयको प्रधानता नहीं देनी चाहिये। कारण कि अभय तो सदा रहता है, पर भय आगन्तुक है। इतना ही नहीं, अभयके द्वारा ही भयकी प्रतीति होती है। वास्तवमें भय आता नहीं, प्रत्युत मिटता है। साधकको चाहिये कि या तो भयके समय अभय कर ले या भयसे पहले रागको मिटा ले।

प्रश्न—चुप-साधनमें मुझे शान्ति मिलती है, पर आप कहते हैं कि शान्तिका भी भोग नहीं करना चाहिये। शान्ति तो मिलती है, पर उसका भोग नहीं करना चाहिये—इसका तात्पर्य क्या है?

स्वामीजी—पारमार्थिक मार्गमें यदि कोई बाधा लगती है तो वह सुखभोगसे ही लगती है। मार्गमें भी सुख भोगोगे तो सिद्धि कैसे होगी? जहाँ आप सुख भोगोगे, वहीं अटकाव होगा।

शान्ति आरम्भमें है, जो कर्मयोगका खास फल है। संसारके सम्बन्धसे अशान्ति होती है, पर संसारके सम्बन्धके त्यागसे शान्ति मिलती है। शान्तिमें सांसारिक सुखसे विलक्षण सुख मिलता है। अगर साधक शान्तिका सुख भोगेगा तो वहीं अटक जायगा। इसमें एक बात जरूर है कि कुछ समय अटकावके बाद आप अपने-आप आगे चलोगे। शान्तिसे आपकी स्वतः अरुचि हो जायगी। परन्तु इसमें समय लगेगा। इससे आगे स्वरूपमें स्थिति होनेपर अखण्ड आनन्द मिलता है। अगर अखण्ड आनन्दका सुख लगे तो आगे भक्ति (परमात्मप्राप्ति)-का अनन्त आनन्द नहीं मिलेगा। अखण्ड आनन्दकी भी उपेक्षा करोगे, तब भक्तिका रस मिलेगा। तात्पर्य है कि कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि सबमें सुखभोग बाधक है। साधक जहाँ सुख लेता है, वहीं अटक जाता है!

प्रश्न—स्वतः जो आनन्द आता है, उसका क्या करें?

स्वामीजी—उसकी उपेक्षा करनी चाहिये। उसमें असन्तोष करें कि इतना ही नहीं, और होना चाहिये। अपने-आप कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदिसे सुख होगा, पर उसमें राजी नहीं होना है और उसे मिटाना भी नहीं है। उसमें अटकना नहीं है, आगे-से-आगे बढ़ना है। वह सुख त्याज्य भी नहीं है और ग्राह्य भी नहीं है, प्रत्युत उपेक्षणीय है। परन्तु संसारका सुख त्याज्य है। कारण कि सांसारिक सुख दुःखका मूल होनेसे दुःख देगा, पर साधनजन्य सुख दुःख नहीं देगा, प्रत्युत अटकाव करेगा। सुख होना चाहिये, पर उसका संग नहीं होना चाहिये। ज्ञान होना चाहिये, पर उसका

संग नहीं होना चाहिये। सुख और ज्ञानका संग ही बाँधता है—‘सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ’ (गीता १४। ६)।

जबतक जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता, तबतक परमात्मामें तल्लीनतासे होनेवाला सुख भी बाधक है; साधनकी ऊँची-से-ऊँची अवस्था होनेपर भी बन्धन रहेगा। साधकमात्रको यह बात याद रखनी चाहिये कि किसीसे भी सम्बन्ध नहीं जोड़ना है। अगर वह अपना कल्याण चाहता है तो किसीके साथ भी बिलकुल सम्बन्ध न जोड़े। वास्तवमें न संसार बाधक है, न माया बाधक है, न अविद्या बाधक है, प्रत्युत सम्बन्ध ही बाधक है। किसीसे सम्बन्ध जोड़ना अपना पतन करना है। इसमें सन्देह नहीं है।

====:0:====

ग्यारहवाँ अध्याय

(चुप-साधन-सूत्र)

१. चुप होना, मूक सत्संग, सहज समाधि, सहजावस्था, अप्रयत्न, जाग्रत्-सुषुप्ति, समता, विश्राम, अकेला होना—ये सब एक ही हैं।
२. चुप-साधनमें न शरीरकी क्रिया है, न मनकी क्रिया है, न बुद्धिकी क्रिया है। वाणी भी चुप है, मन भी चुप है, बुद्धि भी चुप है। कोई बोलता नहीं, सभी चुप हैं।
३. तत्त्व तो स्वतःसिद्ध है। केवल चुप होना है।
४. सब कुछ चिन्मय है—इसके अनुभवका उपाय यह है कि चुप अर्थात् चिन्तन-रहित हो जायँ। चिन्तन करेंगे तो जड़का सहारा लेना ही पड़ेगा।
५. चुप होना जाग्रत्-सुषुप्ति है। सुषुप्तिमें तो वृत्ति अविद्यामें लीन हो जाती है, पर जाग्रत्-सुषुप्तिमें वृत्ति लीन नहीं होती।
६. ‘चुप’ होना सर्वश्रेष्ठ साधन है। साधन भी यही है और साध्य भी यही है। यह समाधिसे भी श्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें बुद्धि और अहम्से सम्बन्ध-विच्छेद है।
७. चुप-साधन सभी साधनोंकी भूमि है। इसीसे सब साधन पैदा होते हैं।
८. चुप-साधन अन्तिम साधन है। अन्तमें साधकको चुप होना ही पड़ेगा।
९. कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों साधनोंके अन्तमें साधक चुप होता है।
१०. चुप-साधन ज्ञानमें भी होता है और भक्तिमें भी। साधककी निष्ठा जिस योगमें है, उसीको चुप-साधन पुष्ट कर देता है। परन्तु चुप-साधन सबकी प्रकृतिके अनुकूल नहीं पड़ता।
११. चुप होना सत्संग है।
१२. निरन्तर चुप रहना ही जीवन्मुक्ति है।
१३. चुप होनेमें पुरुषार्थ या उद्योग नहीं है। कारण कि चुप-साधन ‘करने’ का साधन नहीं है, प्रत्युत ‘होने’ का साधन है। चुप-साधन होता है, किया नहीं जाता। जो किया जाता है, वह चुप-साधन नहीं होता।

१४. चुप-साधनका बढ़िया समय है—प्रातः नींद खुलनेका समय। कारण कि रात्रिमें सोते समय कुछ भी न करनेका संस्कार रहता है।

१५. न नींद हो, न बेहोशी हो, न आलस्य हो, न विक्षेप हो, प्रत्युत स्वच्छ वृत्ति हो, तब चुप-साधन होता है। यदि नींद आती हो तो चुप-साधन नहीं करना चाहिये।

१६. चुप-साधन एकान्तमें उस जगह करना चाहिये, जहाँ किसीके आनेकी सम्भावना न हो; क्योंकि 'कोई आ न जाय'—यह भाव भी बाधा पहुँचाता है।

१७. चुप-साधनमें चिन्तन या ध्यान किसीका भी नहीं करना है, न संसारका, न परमात्माका। किसीका भी चिन्तन करेंगे तो संसार आ ही जायगा, जड़ताका सहारा लेना ही पड़ेगा। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चिन्तन करनेपर भी वृत्ति रहती है, वृत्तिका अभाव नहीं होता। परन्तु कुछ भी चिन्तन न करनेका भाव होनेसे वृत्ति शान्त हो जाती है।

१८. चिन्तन तत्त्वप्राप्तिमें खास बाधा है। चिन्तन करना, वृत्ति लगाना वास्तवमें नाशवान्, जड़, परिवर्तनशीलको महत्त्व देना है। नाशवान्का महत्त्व ही मुख्य बाधा है, इसके सिवाय दूसरी बाधा सम्भव ही नहीं है।

१९. अपने-आप कोई चिन्तन आ जाय तो उससे न राग करें, न द्वेष करें। उसको न अच्छा समझें, न बुरा समझें। उसका न आदर करें, न विरोध करें। उसको अपनेमें भी न मानें, प्रत्युत उसकी उपेक्षा करें। उसकी तरफ ध्यान न दें। उसको अच्छा-बुरा समझना ही खास बाधा है; क्योंकि यह द्वन्द्व है।

२०. साधक पहले बुद्धिसे यह निश्चय कर ले कि सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें एक परमात्मतत्त्व सत्तारूपसे ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। फिर वह इस निश्चयको भी छोड़ दे और चुप हो जाय अर्थात् कुछ भी चिन्तन न करे। आत्मा, अनात्मा, परमात्मा, संसार, संयोग, वियोग आदि किसीका भी चिन्तन न करे। कारण कि वह कुछ भी चिन्तन करेगा चित्त (करण)-के साथ सम्बन्ध रहेगा। करणके साथ सम्बन्ध रहेगा तो संसार (जड़)-का त्याग नहीं होगा; क्योंकि करण भी संसार ही है।

२१. मुझे चुप होना है—यह भाव भी न रहे। मुझे कुछ नहीं करना है—यह भी 'करना' ही है। 'मैं कुछ भी चिन्तन नहीं करूँगा'—इससे कर्तृत्व आ जायगा। कर्तृत्व आयेगा तो प्रकृति आ जायगी। प्रकृति आयेगी तो बन्धन आ जायगा। अतः न चुप होना है, न ध्यान करना है, न मन लगाना है; बस, स्वतः 'है'.....!!

२२. जैसे बच्चा स्वाभाविक ही खेलता है, ऐसे ही चुप-साधन स्वाभाविक होना चाहिये।

२३. निरन्तर चुप, शान्त, अकेला (वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे असंग) रहनेका स्वभाव बना लें अर्थात् साथमें कोई न रहे; न मन रहे, न बुद्धि रहे, न अहम् रहे। अकेला होनेसे हम परमात्माके साथ हो जायँगे। पाँच-दस मिनटके लिये भी अकेले हो जायँ तो मौज हो जायगी!

२४. दिनमें कई बार काम करते-करते, थोड़ी-थोड़ी देरके लिये चुप, शान्त हो जायँ, कुछ भी चिन्तन न करें। ऐसा करनेसे चुप होना आ जायगा। फिर क्रिया करने और चुप होनेमें कुछ भी फर्क नहीं रहेगा।

२५. वास्तवमें चुप निरन्तर है। स्वयं स्वतः ही चुप है। परन्तु ऐसा कहनेसे लोग सीख जायँगे, अनुभव नहीं होगा! लोगोंमें करनेके संस्कार हैं, इसलिये वे करनेकी बात ही पसन्द करते हैं। इसलिये दिनमें कई बार चुप होनेकी बात कही जाती है। वास्तवमें यह अभ्यास नहीं है, प्रत्युत जागृति है, सत्संग है।

२६. वृत्तिने संसारको तो छोड़ दिया और परमात्माको पकड़ नहीं सकी, तब चुप साधन होता है।

२७. जो बोलना था, बोल लिया; सुनना था, सुन लिया; देखना था, देख लिया। अब कुछ भी बोलने, सुनने, देखने, करने आदिकी रुचि नहीं रही। ऐसा होनेपर चुप-साधन बढ़िया होता है।

२८. चुप-साधन करते समय 'नैव किञ्चित्करोमीति' (गीता ५। ८) 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'—यह भाव हर समय रहना चाहिये।

२९. प्रत्येक क्रियाके आदि और अन्तमें हम स्वतः चुप (अक्रिय) होते हैं, पर क्रिया करनेके लिये अक्रिय होते हैं, ठहरते हैं, जिससे पुनः क्रिया करनेकी शक्ति मिलती है। परन्तु साधकको अक्रिय होनेके लिये चुप होना है, क्रिया करनेके लिये नहीं।

३०. नामजप, कीर्तन आदि करनेसे बाहरके संस्कार दूर होते हैं और चुप होनेकी सामर्थ्य आती है।

३१. 'चुप' में भी रमण नहीं करना है अर्थात् चिन्तन न करनेसे भी कोई मतलब नहीं रखना है।

३२. चुप होनेपर शान्ति मिले तो उससे सुख भी नहीं लेना है और उसको मिटाना भी नहीं है। उसमें सन्तोष भी नहीं करना है। सुख लेनेसे वह स्थिति नहीं रहती, या तो नींद आ जाती है, या स्फुरणा पैदा हो जाती है।

३३. मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये और मुझे अपने लिये कुछ नहीं करना है—ऐसा माननेपर चुप-साधन स्वतः होता है।

३४. मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तु अपनी और अपने लिये नहीं होती—ऐसा विचार करके चुप, शान्त हो जाओ। फिर ठीक अनुभव हो जायगा।

३५. आवश्यक कार्यको पूरा कर दें और अनावश्यक अथवा निषिद्ध कार्यका त्याग कर दें तो स्वतः चुप हो जायँगे।

३६. परमात्मा यहाँ हैं, अभी हैं, हमारे हैं और अपनेमें हैं—ऐसा मानकर चुप हो जायँ।

३७. अपनी जगह परमात्मा हैं—ऐसा करके चुप हो जायँ।

३८. एक परमात्मा 'है'—रूपसे परिपूर्ण हैं अर्थात् एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है—इसमें चुप हो जायँ।

३९. 'मैं' की जगह भी 'है' है और 'तू, यह, वह' की जगह भी 'है' है। उस 'है' अर्थात् सत्तामात्रमें चुप हो जायँ।

४०. एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही परिपूर्ण है; उसके सिवाय और कोई हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं—ऐसा देखकर चुप हो जायँ।

४१. स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीरसहित सब कुछ वासुदेव ही है—ऐसा विचार करके फिर इस विचारको भी छोड़कर चुप हो जायँ। विचारको पकड़े न रखें।

४२. हमारी समझमें न आये तो भी 'वासुदेवः सर्वम्' अर्थात् 'सब कुछ वासुदेव ही है' ऐसा मान लें। समझनेमें जोर लगानेसे विपरीत भावना दृढ़ होती है। अतः समझनेकी अपेक्षा मानकर चुप होना बढ़िया है।

४३. संसारकी निवृत्ति भी स्वतः है और परमात्माकी प्राप्ति भी स्वतः है अर्थात् जिसका त्याग करना है, वह छूटा हुआ है और जिसको प्राप्त करना है, वह मिला हुआ है—ऐसा विचार करके चुप हो जायँ।

४४. मैंने न कुछ किया है, न कर रहा हूँ, न करना है, न करूँगा—ऐसा विचार करके चुप हो जायँ।

४५. कुछ करना, जानना और पाना बाकी नहीं है—ऐसे सन्तोष करके चुप हो जायँ।

४६. अनन्त ब्रह्मा उत्पन्न हो-होकर लीन हो गये—यह स्वाभाविक ज्ञान जिसमें है, उसमें चुप हो जायँ। उसमें 'अनन्त ब्रह्मा उत्पन्न हो-होकर लीन हो गये'—इसका भी अभाव हो जायगा।

भक्तिकी दृष्टिसे—

४७. मैं भगवान्के चरणोंमें पड़ा हूँ—ऐसा भाव करके चुप हो जायँ। फिर चरणोंका भी चिन्तन न करें। यह भक्तिमें चुप-साधन है।

४८. 'हे नाथ! हे मेरे नाथ!' कहकर चुप हो जायँ, फिर भगवान्की कृपासे सब ठीक हो जायगा। ऐसा मानो कि जिसको 'मेरे नाथ' कहा है, चुप होनेमें उसीकी शक्ति और दया है।

४९. स्वयं भगवान्का ही अंश है। अतः अंशसहित भगवान्के अर्पित होकर चुप हो जायँ; जैसे पानीका लोटा समुद्रमें मिला दिया।

५०. कुछ देर चुप रहकर 'करने' और 'न करने' से परे हो जायँ। फिर बड़ी विलक्षण शक्ति आयेगी और काम-क्रोधादि तुरन्त मिट जायँगे।

५१. जैसे जल शान्त होनेपर उसमें घुली मिट्टी धीरे-धीरे अपने-आप नीचे बैठ जाती है, ऐसे ही चुप होनेपर सब विकार धीरे-धीरे अपने-आप शान्त हो जाते हैं, अहम् गल जाता है और वास्तविक तत्त्व (अहंरहित सत्ता)-का अनुभव हो जाता है।

५२. होनेवाला चिन्तन चुप होनेसे ही मिट सकता है।

५३. अपनेमें निर्दोषता वास्तवमें है, सदोषता मानी हुई है। चुप होनेसे इस निर्दोषताका अनुभव स्वतः हो जाता है।

५४. चुप होनेसे तत्त्वमें स्वाभाविक प्रियता होगी। प्रियता होनेसे कामका नाश हो जायगा।

५५. चुप होनेसे तात्त्विक बातें समझमें आ जाती हैं और अनुभव भी हो जाता है।

५६. चुप होनेसे मन अपने-आप शान्त हो जाता है अर्थात् उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

५७. जितना चुप, शान्त, निर्वकल्प रहेंगे, उतनी ही नाशवान्का त्याग करनेकी शक्ति आयेगी।

५८. चुप होनेसे समस्याका समाधान मिल जाता है।

५९. चुप होनेसे अपने-आप परमात्मतत्त्वमें स्थिति होती है।

६०. चुप होनेसे तत्त्वज्ञान हो जाता है।

६१. चुप होनेसे संसारका खिंचाव मिट जाता है और स्वतः-स्वाभाविक प्रेम प्रकट हो जाता है; जैसे—रोगसे उठनेपर प्रेम अधिक होता है, कथा-सत्संग सुनना अच्छा लगता है।

६२. चुप होनेसे गीताका अर्थ प्रकट हो जाता है।

६३. चुप होनेसे सत्तामें आनन्दका अनुभव होने लगता है। सत्तामें आनन्दका अनुभव होनेसे सुखेच्छा मिट जाती है।

६४. चुप होनेसे अपनेमें ही अपने प्रभुकी प्राप्ति हो जाती है।

६५. चुप होनेसे 'है' (सत्तामात्र)-में स्थिति हो जाती है और अहम् मिट जाता है।

६६. चुप होनेसे अपने-आप 'वासुदेवः सर्वम्' का अनुभव हो जाता है।

६७. परमात्माके साथ जीवमात्रके स्वतःसिद्ध सम्बन्धका नाम 'नित्ययोग' है। इस स्वतःसिद्ध नित्ययोगकी प्राप्ति चुप, अक्रिय होनेसे होती है।

६८. चुप-साधन करणसापेक्ष साधनवाला भी कर सकता है। कारण कि तत्त्वमें करण नहीं है। अतः चुप होनेसे करण स्वतः छूट जाते हैं।

६९. चुप होनेसे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि सब योग सिद्ध हो जाते हैं।



चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः ॥

(दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम् १२)

'क्या ही आश्चर्य है! वटवृक्षके नीचे वृद्ध शिष्य और युवा गुरु विराजमान हैं। गुरुके मौन व्याख्यानसे शिष्योंके सब संशय मिट गये हैं!'

[तात्पर्य है कि शिष्य क्रिया करते-करते वृद्ध हो गये, पर ज्ञान नहीं हुआ। परन्तु गुरु युवा है, उसको बोध है। चुप होना ही मौन व्याख्यान है, जिससे सब संशय मिट जाते हैं।]

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

आधार-ग्रन्थ-सूची

१. साधक-संजीवनी
२. साधन-सुधा-सिन्धु
३. कल्याणकारी प्रवचन
४. सत्संगका प्रसाद
५. सहज साधना
६. साधन और साध्य
७. जिन खोजा तिन पाइया
८. प्रश्नोत्तरमणिमाला
९. सीमाके भीतर असीम प्रकाश



परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजकी वाणीपर आधारित
'गीता प्रकाशन' का शीघ्र कल्याणकारी साहित्य

१. संजीवनी-सुधा—'गीता साधक-संजीवनी' पर आधारित शोधपूर्ण पुस्तक ।
२. सीमाके भीतर असीम प्रकाश—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह ।
३. बिन्दुमें सिन्धु—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह ।
४. नये रास्ते, नयी दिशाएँ—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह ।
५. अनन्तकी ओर—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह ।
६. स्वातिकी बूँदें—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह ।
७. अनुभव-वाणी—चुने हुए अनमोल वचन । अँग्रेजी-भाषान्तरसहित ।
८. सहज गीता (अँग्रेजीमें भी)—नये पाठकोंके लिये 'साधक-संजीवनी' के अनुसार गीताका सरल हिन्दीमें भावार्थ ।
९. हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं (गुजराती व अँग्रेजीमें भी)—इस प्रार्थनाके रहस्य तथा महत्त्वका अद्भुत वर्णन ।
१०. कृपामयी भगवद्गीता (गुजरातीमें भी)—गीताकी महिमा और उसकी विलक्षणताका वर्णन ।
११. लक्ष्य अब दूर नहीं (गुजरातीमें भी)—परमात्मप्राप्तिके विविध सुगम साधनोंका अनूठा संकलन ।
१२. सहज समाधि भली (गुजरातीमें भी)—'चुप साधन' का विस्तृत विवेचन ।
१३. अपने प्रभुको पहचानें—भगवान्के समग्ररूपका विस्तृत विवेचन ।
१४. एक सन्तकी अमूल्य शिक्षा (क्या करें, क्या न करें)
१५. विलक्षण सन्त, विलक्षण वाणी—प० श्रीस्वामीजी महाराजकी वसीयत-सहित ।
१६. गोरक्षा—हमारा परम कर्तव्य
१७. क्या करें, क्या न करें?—आचार-व्यवहार संबंधी शास्त्र-वचनोंका अनूठा संग्रह ।
१८. भवन-भास्कर (परिशिष्ट-सहित)—वास्तुशास्त्रकी महत्त्वपूर्ण बातें ।
१९. सुखपूर्वक जीनेकी कला—सर्वोपयोगी प्रश्नोत्तर ।
२०. क्या आप ईश्वरको मानते हैं?—साधकोंके लिये चेतावनी ।
२१. बोलनेवाली श्रीमद्भगवद्गीता (अर्थसहित)—इसे पढ़नेके साथ-साथ शुद्ध उच्चारणमें सुन भी सकते हैं ।
२२. ग्लोब गीता—आकर्षक ग्लोबके आकारमें सम्पूर्ण गीता ।

गीता प्रकाशन,

कार्यालय—माया बाजार, पश्चिमी फाटक,

गोरखपुर—273001 (उ०प्र०)

फोन—09389593845; 07668312429

e-mail: radhagovind10@gmail.com